कार्तिक कृष्ण अमावस्या, शुक्रवार, दिनांक १३-१२-१९७४, श्लोक-१, प्रवचन-३

समाधितन्त्र। इसका—पहली गाथा का विशेष है। **आत्मा, आत्मारूप से है और शरीरादि परपदार्थोंरूप नहीं....** देखो! उसमें कितना आया! **आत्मा आत्मारूप से है....** परिपूर्ण। वीर शासन—जैन शासन की विशेषता यह है कि प्रत्येक आत्मा परमात्मस्वरूप है और परमात्मस्वरूप हो सकता है। समझ में आया? आत्मा, आत्मा रूप से है। पूर्ण आनन्द और पूर्ण ज्ञानस्वभाव स्वरूप है और यह रागादि पर स्वरूप नहीं, यह अनेकान्त है। अभी यह चारों ओर चलता है न, देखो न! यह २५०० वर्ष का। भगवान का मार्ग अनेकान्त है, अपरिग्रहवाद है और अहिंसा है। अर्थात् क्या?

यह आत्मा आत्मारूप है। भेदविज्ञान बताया है न पहला? आत्मा अपने स्वरूप से पूर्ण है और यह रागादि या एक समय की पर्याय से नहीं, यह अनेकान्त वास्तविक है। समझ में आया? और यह अहिंसा स्वरूप है। पूर्ण स्वरूप जो है, आत्मा आत्मारूप से है, ऐसा जो पूर्ण स्वरूप, उसका स्वीकार होना, यही अहिंसा अर्थात् जैसा है जीवन उसका, उसने उस प्रकार से स्वीकार किया, माना, इसका नाम अहिंसा है। कहो, नवरंगभाई! ऐसी बात है। और अपरिग्रहवाद भी यह। एक विकल्पमात्र की भी पकड़ स्वरूप में नहीं है। यह आत्मा आत्मारूप से है, उसमें यह बात आ जाती है। समझ में आया?

यह **शरीरादि परपदार्थोंरूप नहीं....** आहाहा! उसमें एक दया, दान और भक्ति का विकल्प उठे, वह भी आत्मा में नहीं है। सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा! क्योंकि वह परस्वरूप विभाव है। वह पूर्ण स्वरूप चैतन्यमूर्ति भगवान एक ही आत्मा स्वयं परमात्मा होने की शक्तिवाला है। कब? परमात्मस्वरूप हूँ, पूर्णानन्दस्वरूप हूँ—ऐसा स्वीकार होने पर। मेरी परमात्मस्वरूप सामर्थ्य है कि मैं स्वयं परमात्मा हो सकता हूँ। मुझे परमात्मा होने में कोई यह दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम वे मुझे सहायक-बहायक नहीं है। आहाहा! ऐसी बात बहुत सूक्ष्म, बापू! समझ में आया? यह अनेकान्त है। आहाहा! लोगों को तो ऐसा बाहर की प्रवृत्ति दया पालना, व्रत पालना, अपवास करना, वह मानो धर्म हो, ऐसा अज्ञानी ने अनादि से मान लिया है। जो वह करना चाहता है,

ऐसी क्रिया का राग वह स्वरूप में नहीं है। परस्वरूप है। समझ में आया?

यह कहते हैं, **आत्मा, आत्मारूप से है और शरीरादि परपदार्थोंरूप नहीं....** आहाहा! देखो! यह अनेकान्त। यह अनेकान्त है। यह आत्मा अपने स्वभाव से परिपूर्ण है, ऐसा अन्तर स्वीकार सम्यग्दर्शन में होना और अपूर्ण तथा रागरूप मैं नहीं.... आहाहा! ऐसी जो अन्तर में स्व की, पूर्ण की अस्ति-सत्ता के स्वीकार में पूर्ण अस्तित्व और अपूर्ण पर्याय और रागादिरूप नहीं होनापना उसमें.... आहाहा! इसका नाम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। आहाहा!

दुनिया को तो ऐसा कठिन पड़ता है। बाहर की बातें लगाकर बैठानी हैं। कुछ व्रत पालना, दया पालना, कहीं अपवास करना, वह धर्म है—ऐसा अज्ञानी मानता है। आहाहा! कहते हैं कि वह वस्तु मैं ऐसा करूँ.... ऐसा करूँ.... ऐसा जो विकल्प-राग है, वह परवस्तु है। चन्दुभाई! आहाहा! वह विकल्पमात्र जो दया, दान या व्रत-भक्ति का है, उसका स्वरूप मुझमें नहीं है, ऐसी जो उसकी पकड़ छूट जाना, उसका नाम निवृत्तस्वरूप भगवान आत्मा अपरिग्रहस्वरूप है। आहाहा! मार्ग ऐसा है। और अभी तो यह २५०० वर्ष के नाम से हो हा... हो हा... कितने लेख आते हैं। वह एक शुभभाव है। भगवान का....परन्तु वह शुभभाव स्वयं धर्म नहीं है। समझ में आया? उस शुभभावस्वरूप आत्मा नहीं है। आहाहा! क्योंकि वह शुभभाव तो आस्रव है। उस आस्रवस्वरूप आत्मा नहीं है। वह तो ज्ञान और आनन्द और शान्तिस्वरूप है। ऐसा जो स्व-पर का भेदज्ञान, वही आत्मा को मोक्ष का उपाय है। समझ में आया?

तथा शरीरादि परपदार्थ, पररूप से हैं.... आहाहा! वास्तव में तो एक समय की पर्याय जो है, वह भी परद्रव्यस्वरूप है, स्वद्रव्यस्वरूप नहीं। आहाहा! होता है ज्ञानी को राग। समझ में आया? परन्तु उस राग की उसे पकड़ नहीं। वह राग मैं हूँ और उस राग से मुझे लाभ होगा, ऐसा मिथ्यादृष्टिपना जिसे छूट जाता है। समझ में आया? यह शरीरादि, विकल्पादि पर पदार्थ पररूप हैं। **और आत्मारूप से नहीं...** समझ में आया? भगवान की भक्ति का विकल्प उठे नाम स्मरण, अरिहन्त का नाम स्मरण हो, वह भी एक विकल्प-राग है। वह आत्मा नहीं है। आहाहा! यह वह कहीं गले उतरना! वे

परपदार्थ पररूप हैं। हैं अवश्य। और वे आत्मारूप नहीं। आहाहा! भगवान ज्ञानानन्दस्वरूप ज्ञान और शान्ति और आनन्द से परिपूर्ण भरपूर पदार्थ, उसरूप वे रागादि नहीं। समझ में आया?

ऐसे निर्णयपूर्वक.... ऐसा निर्णयपूर्वक। अर्थात् कि आत्मा पूर्ण शुद्ध है, ऐसा अन्तर्मुख होकर अनुभूति में निर्णय करना। आहाहा! **स्व-पर का भेदविज्ञान,....** ऐसा जो स्व-पर का भेद अर्थात् भिन्नता का ज्ञान। रागादि व्रत का विकल्प उठे दया-दान, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, ऐसे पंच महाव्रत का जो विकल्प उठे, वह भी राग है, वह आस्रव है, वह बन्ध में जाता है, वह परपदार्थ में जाता है। समझ में आया? ऐसे अन्तर में स्वभाव की परिपूर्णता का स्वसन्मुख में निर्णय, परवस्तु उसमें नहीं—ऐसा निर्णय उसमें नास्ति का आ जाता है। आहाहा! उसे यहाँ भेदविज्ञान कहते हैं।

अरे! वीतराग के बहाने कुछ चला है जगत में। आहाहा! अजैन को जैनपना मनाया है और मानते हैं कि हम जैन हैं। आहाहा! समझ में आया? और हम अनेकान्तवादी है। राग से भी होता है और स्वभाव से भी होता है, ऐसे अनेकान्तवादी हैं। व्यवहार से भी होता है और निश्चय से भी होता है। यहाँ तो कहते हैं कि व्यवहार, व्यवहार परपदार्थरूप है। वह स्वपदार्थरूप नहीं। ऐसा पर से भेदज्ञान अन्तर अनुभव में निर्णय होना, अनुभूति होकर निर्णय होना, ऐसा कहते हैं। भेदज्ञान हुआ न? वह **सिद्धपद की प्राप्ति का-मोक्षप्राप्ति का उपाय है।** लो! यह मोक्ष का मार्ग है। बाकी दूसरा मार्ग माने, वे सब मिथ्यादृष्टि हैं। वे जैन नहीं, उन्हें जैन की खबर नहीं। आहाहा! समझ में आया?

श्री समयसार, गाथा २ की टीका में भी लिखा है— आहाहा! आता है न दूसरी गाथा में? **सर्व पदार्थों के स्वभाव को प्रकाशित करने में समर्थ - ऐसे केवलज्ञान को....** सब पदार्थों को जानने में, प्रकाशित करने में समर्थ ऐसी जो केवलज्ञान दशा, केवलज्ञान दशा, अरिहन्तदशा को **उत्पन्न करनेवाली भेदज्ञान ज्योति उदय पाती है।** आहाहा! वह केवलज्ञान जो मोक्षपद, उसे उत्पन्न करनेवाली भेदज्ञानज्योति। चैतन्य पूर्ण स्वरूप में एकाग्रता और अपूर्णता और राग का नकार—निषेध अन्दर नास्ति का परिणमन,

आहाहा! ऐसी भेदज्ञानज्योति उदय होती है। वह मोक्ष का कारण होती है। वह केवलज्ञान को उत्पन्न करने का कारण है। आहाहा! कहो, ऐसा वाद-विवाद करे तो कहीं मिलान खाये ऐसा नहीं है, भाई! आहाहा! ऐसा मार्ग अन्दर का है। कितनों को तो यह सुनने को मिला नहीं, अभी कान में पड़ा नहीं। जैनधर्म अर्थात् क्या? जीतना कहो या भेदज्ञान करना कहो। समझ में आया?

'सर्व पदार्थों के स्वभाव को प्रकाशित करने में समर्थ - ऐसे केवलज्ञान को उत्पन्न करनेवाली भेदज्ञान ज्योति.... स्व और पर की भिन्नता ऐसी ज्ञानज्योति चैतन्य सम्यग्दर्शन में प्रगट होती है। आहाहा! यह केवलज्ञान अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति का उपाय है। समझ में आया? **इस प्रकार भेदज्ञान ज्योति ही....** भाई ने स्पष्टीकरण किया है। छोटभाई ने? छोटालाल गुलाबचन्द। गुलाबचन्द न? अर्थ उन्होंने किया है। **इस प्रकार भेदज्ञान ज्योति ही....** यह तो एकान्त कर दिया, लो। जो व्यवहार कहते हैं न दया, दान, व्रत, भक्ति, तप और तपस्या, वह तो सब विकल्प है, राग है। यह मानता है कि यह मेरी तपस्या है और मेरा.... वह विकल्प है। उससे भिन्न पड़ा हुआ ज्ञान। उसे रखकर केवलज्ञान हो या उससे हो, (ऐसा नहीं है)। उससे भिन्न पड़कर (होता है)। आहाहा! अपूर्व बात है, बापू! उसका अचिन्त्य और अपूर्व स्वरूप है। पर से भिन्न पड़कर स्व में एकाग्र होना, स्व जिसे कहते हैं आत्मा, आनन्द और ज्ञान में एकाग्र होना और राग से अभावरूप परिणमना, ऐसी भेदज्ञान ज्योति, केवलज्ञान प्रगट करने का एक उपाय है। यह वीतराग का मार्ग है। सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव ऐसा फरमाते हैं। आहाहा! उनके नाम से अभी इतने घोटाले चले हैं। बेचारे को खबर नहीं होती। वाडा में उलझकर पड़े। प्रेमचन्दभाई! प्रेमचन्दभाई कहते थे बेचारे यह ७० वर्ष-७१ वर्ष पानी में गये तुम्हारे, यह भान बिना। वहाँ तो सेठिया में गिने जाते। बाप, काका को। उनके काका के घर में आये हैं न वे? ....भाई के। आहाहा!

अरे! भाई! वीतरागमार्ग बापू! अपने में से प्रगट होता है या पर से होता है? स्वयं कौन है, उसे जाने बिना किसमें से आवे यह बात? स्वयं भगवानस्वरूप चैतन्य परमात्मा स्वयं ही आत्मा परमात्मा है। परम आत्मा अर्थात् परम स्वरूप विराजमान प्रभु है। आहाहा! उसकी अन्तर में राग से भिन्न पड़कर भेदज्ञान की ज्योति प्रगट होना, वह

भेदज्ञानज्योति ही मोक्ष का उपाय है। यहाँ तो उपाय से उपेय मिले, ऐसा कहना है न? समझ में आया?

प्रवचनसार में १०१ गाथा में कहा, वह दूसरे प्रकार से है। वहाँ तो मोक्ष की पर्याय जो उत्पन्न हो केवलज्ञान की, वह स्वयं से होती है। वह पूर्व के भेदज्ञान से भी नहीं। आहाहा! भेदज्ञान की दशा जो मोक्षमार्ग की पर्याय, उसका व्यय होता है। उस व्यय के कारण केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है, ऐसा भी नहीं। आहाहा! ऐसा मार्ग वीतराग का कहीं है नहीं। सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ वीतराग परमात्मा का यह कथन और उस प्रवचन का यह सार है। यह सिद्धान्त का यह सार है।

हमारे हीराजी महाराज बेचारे कहते थे, '**अहिंसा समयं चेव एयावत्त वियाणिया एवं खु णाणिणो सारं जं न हिंसइ किंचणम** ' बहुत कषाय मन्द थी। स्थानकवासी में ऐसी क्रिया नहीं थी, ऐसी उनकी क्रिया थी। थे गरीब मनुष्य में से हुए, परन्तु फिर थोर (काँटेवाली वनस्पति) पर केला लगा। बहुत शान्त। तुमने देखा है? नहीं देखा। (संवत्) १९७४ में तो गुजर गये। मनुभाई ने तो कहाँ से देखे हों? बाबूभाई ने देखे नहीं तो। ७४ में गुजर गये। वे तो ऐसा कहते थे, हों! हजारों लोग उनका व्याख्यान सुनें मोरली की भाँति। भाई ने तो देखे थे, नहीं? ७१ में।

मुमुक्षु : राजकोट आये थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : राजकोट आये थे ७१ में। ठाकरसीभाई ने प्रार्थना की। ७१ के वर्ष में चातुर्मास की। शान्त। परन्तु यह उनकी श्रद्धा। '**एवं खु णाणिणो सारं**'—ज्ञानी का यह सार है कि '**जं न हिंसइ किंचणम**' किसी भी प्राणी को नहीं मारना, यह ज्ञानी का सार है। वे ऐसा कहते थे। '**अहिंसा समयं चेव**' किसी भी प्राणी को नहीं मारना, यह सिद्धान्त का सार है। '**एयावत्त वियाणिया**' यह जाना, उसने सब जाना। शान्ति से कहते, धीरे से। परन्तु खबर नहीं वस्तु की। क्या करे? आहाहा! पोपटभाई! देखे थे? तुमने नहीं देखे होंगे। बहुत वर्ष हो गये। ७४ में गुजर गये। ७४। २६ और ३०। यह तो अब ३१ हुए न? ५७ वर्ष हो गये, गुजर गये। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि सर्वज्ञ के सिद्धान्त का यह सार है कि.... आहाहा! ऐई!

मलूकचन्दभाई! तुमने तो सुने थे। तुमने भी देखे होंगे। यहाँ तो कहते हैं कि वस्तु स्वभाव जो पूर्णानन्द ज्ञानस्वरूप है, उसे राग के विकल्प से भिन्न करके जो भेदज्ञान अथवा स्वरूप का अभेदज्ञान (और) राग से भेदज्ञान... आहाहा! यह सिद्धान्त का सार और यह मोक्षमार्ग है। पर को न मारना, मारने की क्रिया आत्मा नहीं कर सकता। आहाहा! पर को मारना, ऐसा मान सकता है, वह भी मिथ्यादृष्टि है। उसे जैन की खबर नहीं। पर की दया पाल सकता हूँ, वह भी मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है, जैन नहीं। आहाहा! क्योंकि परपदार्थ की अवस्था का होना, वह आत्मा से होता है, ऐसा मानते थे, जैसे ईश्वर जगत का कर्ता मानते हैं, वैसे इसने पर की दया पाल सकता हूँ (ऐसा) माना, दोनों की श्रद्धा एक ही समान है। आता है न भाई? वहाँ छह काय का फल सर्वविशुद्ध में आता है न। ईश्वर कर्ता मानते हैं और यह छह काय के जीव की मैं रक्षा कर सकता हूँ, ऐसा मानते हैं, वे दोनों एक सरीखे मिथ्यादृष्टि हैं। आहाहा! समझ में आया?

इस प्रकार भेदविज्ञान ज्योति ही केवलज्ञान प्रगट करने का साधन / उपाय है।

स्व-पर का—जीव-अजीव का भेदविज्ञान.... अर्थात् क्या कहते हैं अब? **प्रथम तो दुःख दूर करने के लिये स्व-पर का ज्ञान अवश्य होना चाहिए। यदि स्व-पर का ज्ञान न हो तो अपने को पहिचाने बिना, अपना दुःख कैसे दूर करे?** आहाहा! स्वयं जो दुःखस्वरूप है—ऐसा माने, वह दुःख को कैसे टाल सकेगा? परन्तु आत्मा दुःख के भावरहित आत्मा है, दुःख की दशा अर्थात् राग की दशा, विकल्प की दशा, वह दुःखदशा, उससे भगवान रहित है। ऐसे यदि स्व को जाने तो पर को टालने का उपाय वहाँ रहे। दुःख को नाश करने का उपाय रहे। परन्तु दुःख राग और स्वयं—दोनों (एकरूप) अपने को माने तब तो पर को टालने का वहाँ रहा नहीं। वह तो स्वयं है, ऐसा इसने माना। आहाहा! समझ में आया?

अपना दुःख दूर करने के लिये पर का उपचार करे.... लो! अपने को पहिचाने बिना **अपना दुःख कैसे दूर हो? अथवा स्व-पर को एक जानकर,....** देखा! राग और आत्मा दोनों एक जाना। **अपना दुःख दूर करने के लिये पर का उपचार करे...** आहाहा! राग की सम्हाल करे, वह वृत्ति का उत्थान होता है यह करना.... यह करना.... दया

पालूँ.... व्रत पालूँ.... अपवास करूँ, यह तो सब वृत्ति का उत्थान है, राग है, यह तो पर है। आहाहा!

स्व-पर को एक जानकर, अपना दुःख दूर करने के लिये पर का उपचार करे.... क्योंकि पर से भिन्न जाने नहीं और पर को तथा अपने को एक माने तो पर का उपचार करे। **उससे अपना दुःख कैसे दूर हो ?** बहुत सादी भाषा में (बात है) **अथवा अपने से भिन्न ऐसे पर में, यह जीव अहंकार-ममकार करे....** अपना आनन्द और ज्ञानस्वभाव है, ऐसा न जाने और राग में अहंकार करे, राग विकल्प उठे, वह भी मैं हूँ। आहाहा! वह मैं हूँ और वह मेरा है। ऐसा अहंकार-ममकार। दया का, दान का, व्रत का, अपवास का विकल्प, वह तो विकल्प है। ऐसा करूँ, अपवास करूँ, ऐसा करूँ, वैसा करूँ। इस विकल्प को अपना जाने, भिन्न न माने तो उसे ही रखने का प्रयास करे। आहाहा! कहो, जेठाभाई! ऐसी वस्तु बहुत सूक्ष्म। इसमें किसी के साथ चर्चा करे तो पार आवे, ऐसा नहीं है। आहाहा!

अथवा अपने से भिन्न ऐसे पर में, यह जीव अहंकार-ममकार करे तो उससे दुःख ही होता है;.... राग का विकल्प, पुण्य का विकल्प, दया-दान का विकल्प, उसे अपना माने और मैं उसका और वह मेरा, यह तो दुःख ही होता है, मिथ्यात्व होता है। मिथ्यात्व होता इसलिए दुःख ही होता है। आहाहा! **अतः स्व-पर का ज्ञान होने पर दुःख दूर होता है।** स्व अर्थात् चैतन्यमूर्ति भगवान, पर अर्थात् विकल्प और रागादि, शरीरादि, कर्मादि सब पर। दोनों का भेदज्ञान होने पर दुःख दूर होता है। आहाहा!

अब, स्व-पर का ज्ञान, जीव-अजीव का ज्ञान होने पर ही होता है, क्योंकि स्वयं जीव है तथा शरीरादिक अजीव हैं। जड़ है। उसकी क्रिया ऐसी हलन-चलन हो, ऐसा हो, वह तो सब जड़ की क्रिया है। उसे ऐसा माने कि मैंने शरीर को ऐसे हिलाया, मैंने दूसरे की दया पालन की, मैंने जीव को बचाया। वह सब क्रिया तो जड़ की है। उसे अपना माना। आहाहा! समझ में आया ? आहाहा! मार्ग वीतराग का कुछ रह गया और लोग बेचारे कुछ (दूसरे) रास्ते चढ़ गये। ऐसे जिन्दगी चली गयी। आहाहा!

यदि लक्षणादिक द्वारा जीव-अजीव की पहिचान हो... जीव का लक्षण जानना-

देखना, आनन्द; राग का लक्षण आकुलता और दुःख; शरीरादि का लक्षण अजीव और जड़। आहाहा! इस प्रकार **यदि लक्षणादिक द्वारा जीव-अजीव की पहिचान हो तो ही स्व-पर का भिन्नपना भासित हो; अतः जीव-अजीव को जानना चाहिए।** इसलिए जीव और अजीव (जानना चाहिए)। (मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ७८, हिन्दी आवृत्ति)। उसमें से डाला है। नीचे लिखा है न।

अब **भेदविज्ञान की आवश्यकता....** अजीव और जीव की भिन्नता की आवश्यकता। **सर्व दुःखों का मूलकारण मिथ्यादर्शन....** सर्व दुःखों का मूलकारण मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान, मिथ्या-आचरण। आहाहा! **इन सर्व दुःखों का अभाव करने के लिये इसे (जीव को) दो प्रकार का भेदविज्ञान कराया जाता है।**

पहले प्रकार का भेदविज्ञान - जीव, अपने गुणों और पर्यायों से एक है,... देखा? भगवान आत्मा ज्ञान-आनन्द गुण और उसकी निर्मल पर्याय, उनसे एक है। **अभिन्न है....** एकत्व-विभक्त कहा है न? **तथा परद्रव्यों, उनके गुणों और पर्यायों से अत्यन्त भिन्न है,....** आहाहा! रागादि और शरीरादि की क्रिया और पर्याय से अत्यन्त भिन्न है। **अर्थात् जीव....** यहाँ अपने को चतुष्टयरूप सिद्ध करना है न? **स्वद्रव्य से....** गुण-पर्याय का पिण्ड, वह स्वद्रव्य। **स्वक्षेत्र से....** असंख्य प्रदेशी स्वक्षेत्र। **स्वकाल से....** उसकी समय की पर्याय **स्वभाव से,....** उसके त्रिकाली शक्ति के गुण। आहाहा! ऐसे **स्वद्रव्य से, स्वक्षेत्र से, स्वकाल से और स्वभाव से, परद्रव्य के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से अत्यन्त भिन्न है;....** आहाहा! यह सप्तभंगी पहले की। अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्ति है, पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्ति है। स्वयं चैतन्यस्वरूप है, उसका वह द्रव्यपना गुण और पर्याय का पिण्ड। उसका क्षेत्रपना असंख्य प्रदेशी, उसका कालपना वर्तमान अवस्था, उसका भावपना त्रिकाली शक्ति। अब यह भी सुना न हो, अब उसे जीव का ज्ञान, अजीव का ज्ञान। आहाहा! स्वक्षेत्ररूप से, स्ववस्तुरूप से, स्वकालरूप से, स्वभावरूप से है। और परकाल शरीर, वाणी, मन, कर्म और रागादि के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से वह नहीं है।

अतः इस अपेक्षा से परद्रव्य, उनके गुण.... उसकी शक्ति **तथा उनकी पर्यायों के**

साथ का सम्बन्ध, मात्र व्यवहारनय से संयोगरूप अथवा निमित्तरूप है.... लो! **ऐसा ज्ञान कराया जाता है।** यह पहला भेदज्ञान। **इस दृष्टि से परद्रव्यों के साथ का सम्बन्ध, असद्भूत-असत्य होने से, उस सम्बन्धी ज्ञान करानेवाले नय को व्यवहारनय कहा जाता है....** आहाहा! **और जीव के द्रव्य, गुण, पर्याय अपने होने से सद्भूत-सत्य होने से उस सम्बन्धी का ज्ञान करानेवाले नय को निश्चयनय कहा जाता है।** परद्रव्य से भिन्न बतलाना है न। समझ में आया?

दूसरे प्रकार का भेदविज्ञान.... ...प्रकार का कहा। **किन्तु पहले प्रकार के भेदज्ञान करनेमात्र से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान नहीं हो जाता।** क्योंकि पर्याय की अशुद्धता का ज्ञान करना चाहिए न इसे? **अनादि से जीव की पर्याय, अशुद्ध है।** अनादि काल से कर्म के निमित्त के सम्बन्ध में उसकी दशा में मलिनता है-अशुद्धता है। पुण्य-पाप के भाव की मलिनता उसकी पर्याय में है। आहाहा! **उसे अपने में होती होने की अपेक्षा से 'निश्चयनय' का विषय कहते हैं,....** देखा! अपने में होता है न, इस अपेक्षा से। **तथापि वह पर के आश्रय से होती होने की अपेक्षा से, उसे व्यवहारनय का विषय भी कहा जाता है....** आहाहा! पुण्य और पाप, दया और दान, व्रत और भक्ति, काम और क्रोध, ऐसे जो विकल्प मलिन दशा वह उसमें है, उसकी है, इस अपेक्षा से निश्चय कहा जाता है। परन्तु त्रिकाल स्वभाव की अपेक्षा से उस मलिनता को व्यवहार कहने में आता है। समझ में आया?

तथा शुद्धपर्यायें भी जीव का त्रिकालीस्वरूप नहीं हैं.... देखा! शुद्धपर्यायनिर्मल हो, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की स्वभाव के आश्रय से होनेवाली निर्मल दशा, वह भी त्रिकाली स्वरूप नहीं है, वह तो एक समय की दशा है। आहाहा! **उनके आश्रय से व गुणभेद के आश्रय से विकल्प उत्पन्न होते हैं;....** एक तो एक कहा कि निर्मल दशा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो द्रव्य के आश्रय से होती है, इसलिए वह त्रिकाली स्वरूप नहीं है। एक समय की दशा है। **उनके आश्रय से....** निर्मल पर्याय का आश्रय करने जाये तो राग उठता है। आहाहा! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो पर्याय निर्मल प्रगट हुई, उसका आश्रय करने जाये तो पर्याय है तो राग उठता है। यह तो बहुत सरल सीधा है।

इसलिए उनका आश्रय छुड़ाने की अपेक्षा से उन्हें भी व्यवहार कहा जाता है.... मलिन पर्याय अशुद्ध है, वह अपनी है, इस अपेक्षा से निश्चय कहा परन्तु त्रिकाल की अपेक्षा से उसे व्यवहार कहा। उस स्वभाव की अपेक्षा से। अब निर्मल दशा होती है.... आहाहा! मोक्ष का मार्ग प्रगट होता है, राग से भिन्न पड़कर सम्यग्दर्शन और ज्ञान स्वभाव के अभिन्नपने से प्रगट होते हैं, वह भी एक समय की पर्याय है। इसलिए भी व्यवहार। और उसके आश्रय से विकल्प उठता है, पर्याय के आश्रय से लक्ष्य करे तो। आहाहा! देव-गुरु-शास्त्र का लक्ष्य करे, तब तो विकल्प उठे (परन्तु) निर्मल पर्याय का लक्ष्य करने जाये, उसका आश्रय करे तो विकल्प.... आश्रय करने जाये तो विकल्प उठे। समझ में आया?

इसलिए उनका आश्रय छुड़ाने की अपेक्षा से.... पर्याय की निर्मल दशा को भी **व्यवहार कहा जाता है....** आहाहा! इसमें तो सादी भाषा है, गुजराती है। इसमें किसी को लेखा लिखने जैसा नहीं है परन्तु इसे दरकार नहीं, दरकार नहीं। आहाहा! मेरा क्या होगा? मैं कहाँ हूँ? और क्या हो रहा है? उसके फल में-हो रहे उसके फल में क्या आयेगा? आहाहा! यहाँ तो त्रिकाली शुद्ध स्वभाव नित्यानन्द प्रभु का आश्रय लेने से धर्म होता है। इसलिए द्रव्य का आश्रय करना और पर्याय का आश्रय छोड़ना। अशुद्धता तो छोड़ना परन्तु शुद्ध निर्मलदशा हो, उसका भी आश्रय छोड़ना। आहाहा! धर्म करनेवाले जीव को धर्म की पर्याय का भी आश्रय छोड़ना, ऐसा कहते हैं। क्योंकि धर्म की पर्याय एक समय की दशा है। समझ में आया? वह त्रिकाली स्वरूप नहीं है।

और जीवद्रव्य का त्रैकालिक शुद्धस्वरूप जो कि ध्रुव है, उसे निश्चय कहा जाता है.... त्रिकाल नित्यानन्द प्रभु, वही सत्यार्थ है, वही भूतार्थ है, वही विद्यमान सत्य निश्चय है। आहाहा! समझ में आया? **क्योंकि उसके आश्रय से ही धर्म प्रारम्भ,....** नित्य ध्रुवस्वरूप भगवान आत्मा के आश्रय से धर्म प्रगट होता है, उसकी शुरुआत हो **उसका टिकना, उसकी वृद्धि और पूर्णता होती है।** पूर्ण शुद्ध ध्रुव वस्तु का आश्रय करने से धर्म की शुरुआत होती है, उसकी वृद्धि होती है, वह धर्म टिका रहे त्रिकाली के आश्रय से। आहाहा! **और पूर्णता होती है।** त्रिकाल ज्ञायक चैतन्य नित्यानन्दस्वरूप प्रभु, उसका आश्रय करने से सम्यग्दर्शन होता है और वह धर्म उसके आश्रय से टिका

रहता है और उसके ध्रुव के आश्रय से धर्म की वृद्धि होती है और उस ध्रुव के आश्रय से धर्म की परिपूर्णता होती है। यह तो सादी बात है। बहुत सादी भाषा है।

मुमुक्षु : भाव ऊँचे हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : भले भाव चाहे जो हो। आहाहा!

अब कहते हैं, **सिद्धात्मा को नमस्कार किसलिए ?** सिद्ध को नमस्कार किया न पहला ? कि **सिद्ध भगवन्तों....** समयसार का (आधार देते हैं)। **सिद्धपने के कारण,....** सर्वज्ञ परमेश्वर सिद्ध णमो सिद्धाणं। जिन्हें पूर्ण आनन्द की दशा, ज्ञान की दशा पूर्ण प्रगट हुई। ऐसे जो सिद्ध भगवान—णमो सिद्धाणं, उन्हें नमस्कार क्या ? किसलिए ? **सिद्धपने के कारण, साध्य जो आत्मा,...** साधना है वह आत्मा। पूर्ण करना है तो आत्मा को न ? **साध्य जो आत्मा, उसके प्रतिच्छन्द (प्रतिबिम्ब) के स्थान पर हैं,....** हे सिद्ध भगवान! आप पूर्ण हो। ऐसी ध्वनि उठे तो सामने (ध्वनि) होती है कि हे आत्मा! तुम पूर्ण हो। प्रतिच्छन्द-आवाज आवे न सामने से ? प्रतिध्वनि पड़े। प्रतिघात। हे परमात्मा! सिद्धा सिद्धिम मम् दिसंतु। आता है न ? सिद्ध परमात्मा केवलज्ञानी प्रभु आप पूर्ण हो। मुझे सिद्धपद दिखलाओ। सामने ध्वनि आती है, तू पूर्ण है, तू सिद्धपद को देख। आहाहा! मूल तो सम्यग्ज्ञान और दर्शन बिना यह सब गड़बड़ उठी है। मूल पाया खोटा और फिर सब उठे ऊपर से, यह किया और वह किया और धूल की। ऐसी की ऐसी भटकन अनादि से रही है। मूल हाथ नहीं आया।

साध्य जो आत्मा, उसके प्रतिच्छन्द (प्रतिबिम्ब) के स्थान पर हैं, जिनके स्वरूप का संसारी भव्यजीव चिन्तवन करके,.... सिद्ध समान सदा पद मेरो। आता है न यह ? 'चेतन रूप अनूप अमूरत सिद्ध समान सदा पद मेरो।' मैं तो त्रिकाल शुद्ध स्वरूप ही हूँ। यदि सिद्धस्वरूप न हो तो सिद्ध की पर्याय आयेगी कहाँ से ? कहीं बाहर से आनेवाली है ? आहाहा! चौसठ पहरी, छोटी पीपर में चौसठ पहरी चरपराहट अन्दर भरी है। तो उसकी दशा में चौसठ पहरी चरपराहट बाहर आती है। उसी प्रकार पूर्ण परमात्मदशा आत्मा में है। आहाहा! तो वह परमात्म पूर्ण दशा प्रगट होती है। आहाहा!

यह संसारी जीव सिद्ध समान अपने स्वरूप को विचारकर, **चिन्तवन करके, उन**

समान अपने स्वरूप को ध्याकर,.... मैं पूर्ण शुद्ध सिद्ध समान हूँ, ऐसी अन्तर्दृष्टि करके, उसके स्वरूप का ध्यान करके **उनके जैसे हो जाते हैं.....।** सिद्ध का ध्यान करके सिद्ध जैसे हो जाता है। आहाहा! मैं सिद्ध हूँ, ऐसा ध्यान करके, हों! सिद्ध पर लक्ष्य रखकर, ऐसा नहीं।

मुमुक्षु : उन समान अपना स्वरूप।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, ऐसा। सिद्ध के ऊपर लक्ष्य रखे कि यह सिद्ध है, वह तो विकल्प है। आहाहा! परन्तु यह कहते हैं न कि साध्य जो आत्मा। सिद्ध करना है पूर्ण आत्मा को, ऐसा जो साध्य आत्मा, उनके स्थान में सिद्ध परमात्मा प्रतिच्छन्द के स्थान पर है। आहाहा! यह समयसार की भाषा है।

संसारी को शुद्ध आत्मा, साध्य है.... देखा! शुद्ध पूर्ण पवित्र आत्मा, वह साध्य है। उपाय उपेय आता है न? उपेय कहो या साध्य कहो। शुद्ध आत्मा वह संसारी का साध्य है। पूर्ण शुद्ध पूर्ण पवित्र, पूर्ण केवलज्ञानादि से प्राप्त, ऐसा जो शुद्ध आत्मा उस आत्मा को साध्य-प्रगट—करनेयोग्य वह है। **सिद्ध, साक्षात् शुद्धात्मा हैं;....** सिद्ध को तो वर्तमान दशा में ही पूर्णता प्रगट हो गयी है। साक्षात् है। **इस कारण उन्हें नमस्कार करना उचित है।** इसलिए उन सिद्ध भगवान को नमस्कार करना वह उचित है।

मोक्षमार्गप्रकाशक के (पहले अध्याय में) पृष्ठ २ में सिद्धभगवान का स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि— मोक्षमार्ग (प्रकाशक) का आधार दिया। **जिनके ध्यान द्वारा भव्य जीवों को स्वद्रव्य-परद्रव्य का, औपाधिकभाव....** सिद्ध में जो नहीं, वह मुझमें नहीं, ऐसा उपाधिकभाव का ख्याल आता है। सिद्ध में नहीं राग नहीं दया, दान, व्रत, भक्ति का कोई विकल्प वह नहीं। तो मैं भी उनके जैसा हूँ। मुझमें भी वह है नहीं। आहाहा!

जिनके ध्यान द्वारा भव्य जीवों को स्वद्रव्य-परद्रव्य का, औपाधिकभाव.... स्वद्रव्य-परद्रव्य उपाधिभाव **तथा स्वाभाविकभावों का विज्ञान होता है; जिसके द्वारा स्वयं को सिद्धसमान होने का साधन होता है;....** देखा! उसमें राग नहीं, पुण्य नहीं, दया, दान का, व्रत का विकल्प नहीं उन्हें। वह तो उपाधिभाव है। उनका विचार करने

से वह उपाधिभाव है, तो मुझमें भी वह नहीं। आहाहा! मार्ग ऐसा सूक्ष्म न। अन्तर का मार्ग है, उसे बाहर से पकड़ना है लोगों को। आहाहा! यह क्रियाकाण्ड करके, यह किया, वह किया, व्रत पालन किये, दया पालन की। अब वह निकलते हैं न दया पालने? आहार लेने जाये तो हलवाई की दुकान में.... दया पाली। दया पालन की। स्थानकवासी में ऐसा बहुत होता है। वे मारवाड़ी बहुत होते हैं। सब भ्रमणा। यह निर्दोष आहार लेना। किसी ने दया पालन की। अरे! धूल भी दया नहीं। तुझे दया की खबर नहीं। वह विकल्प है, वह तो उपाधि है। और लेता हूँ, यह मान्यता ही मिथ्यात्व है। परवस्तु को लेता हूँ, मैंने परवस्तु की दया पालन की, रखी, वह मिथ्यात्वभाव है। वह तो मिथ्यात्व का पोषण है, अधर्म का पोषण है। क्या हो? धर्म के बहाने। धर्म मानकर जीव लुटता है। उसकी उसे खबर नहीं। होंश से, हर्ष से लुटता है वापस।

यहाँ कहते हैं कि सिद्ध का ध्यान करे और उसके अन्तर्मुख में स्वसन्मुख झुकाये तो उसमें उन्हें उपाधि का भाव नहीं तो मुझमें भी नहीं। यह कहा न? **स्वाभाविकभावों का विज्ञान होता है;....** उसका स्वभावभाव तो अत्यन्त शुद्ध रहा केवलज्ञानमय। तो मेरा भी ऐसा ही शुद्धस्वभाव है केवलज्ञानमय। आहाहा! यह पुस्तकें थोड़ी हैं। १५०० प्रकाशित किये हैं, समाप्त हो गये। बहुतों के पास नहीं हैं। प्रकाशित हो गये और दे दिये गये।

अतः साधनेयोग्य जो अपना शुद्धस्वरूप,.... साधनेयोग्य तो अपना शुद्ध स्वरूप है। परिपूर्ण केवलज्ञान और आनन्द को प्राप्त करनेयोग्य तो आत्मा स्वयं है। **उसको दर्शाने के लिये, जो प्रतिबिम्ब के समान है.....**

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)